

अंगविज्ञा प्रकीर्णक*

ग्रन्थका बाह्य स्वरूप

यह ग्रन्थ गद्य-पद्यमय साठ अध्यायोंमें समाप्त होता है और नव हजार श्लोक परिमित है। साठवाँ अध्याय दो विभागमें विभक्त है, दोनों स्थानपर साठवें अध्यायकी समाप्ति सूचक पुष्पिका है। मेरी समझसे पुष्पिका अन्तमें ही होनी चाहिए, फिर भी दोनों जगह होनेसे मैंने पुष्पिके उत्तरार्द्ध रूपसे विभाग किया है। पूर्वार्धमें पूर्वजन्म विषयक प्रश्न-फलादेश हैं और उत्तरार्धमें आगामि जन्म विषयक प्रश्न-फलादेश हैं। आठवें और उनसठवें अध्यायके क्रमसे तीस और सत्ताईस पटल (अवान्तर विभाग) हैं। नववाँ अध्याय, यद्यपि कहीं कहीं पटलरूपमें पुष्पिका मिलनेसे (देखो पृ. १०३) पटलोंमें विभक्त होगा परन्तु व्यवस्थित पुष्पिकायें न मिलनेसे यह अध्याय कितने पटलोंमें समाप्त होता है यह कहना शक्य नहीं। अतः मैंने इस अध्यायको पटलोसे विभक्त नहीं किया है किन्तु इसके प्रारंभिक पटलमें जो २७० द्वार दिये हैं उन्होके आधारसे विभाग किया है। मूल हस्तलिखित आदर्शोंमें ऐसे विभागोंका कोई ठिकाना नहीं है, न प्रतियोंमें पुष्पिकाओंका उल्लेख कोई दंगसर है, न दोसौसत्तर द्वारोंका निर्देश भी व्यवस्थित रूपसे मिलता है, तथापि मैंने कहीं भ्रष्ट पुष्पिका, कहीं भ्रष्ट द्वारांक, कहीं पूर्ण घटका चिह्न जो आज विकृत होकर अपनी लिपिका “हठ” सा हो गया है, इत्यादिके आधारपर इस अध्यायके विभागोंको व्यवस्थित करनेका यथाशक्य प्रयत्न किया है। इस ग्रंथमें पद्योंके अंक, विभागोंके अंक, द्वारोंके अंक वगैरह मैंने ही व्यवस्थित रूपसे किये हैं। लिखित आदर्शोंमें कहीं कहीं पुराने जमानेमें ऐसे अंक करनेका प्रयत्न किया गया देखा

* अंगविज्ञा (Science of Divination Through Physical Signs and Symbols ; प्रकाशक-प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, ई. स. १९५७)के संपादनकी प्रस्तावनासे उद्धृत।

जाता है, किन्तु कोई भी इसमें सफल नहीं हुआ है। सबके सब अधविचमें ही नहीं किन्तु शुरूसे ही पानीमें बैठ गये हैं, फिर भी मैंने इस ग्रन्थमें साधत विभागादि करनेका सफल प्रयत्न किया है।

ग्रन्थकी भाषा और जैन प्राकृतके विविध प्रयोग

जैन आगमोंकी मौलिक भाषा कैसी होगी — यह जाननेका साधन आज हमारे सामने कोई भी नहीं है। इसी प्रकार मथुरा-वल्लभी आदिमें आगमोंको पुस्तकारूढ किये तब उसकी भाषाका स्वरूप कैसा रहा होगा इसको जाननेका भी कोई साधन आज हमारे सामने नहीं है। इस दशमें सिर्फ आज उन ग्रन्थोंकी जो प्राचीन अर्वाचीन हस्तप्रतियाँ विद्यमान हैं — यह एक ही साधन भाषानिर्णयके लिये बाकी रह जाता है। इतना अनुमान तो सहज ही होता है कि जैन आगमोंकी जो मूल भाषा थी वह पुस्तकारूढ करनेके युगमें न रही होगी, और जो भाषा पुस्तकारूढ करनेके जमानेमें थी वह आज नहीं रही है — न रह सकती है। प्राचीन-अर्वाचीन चूर्णिव्याख्याकारादिने अपने चूर्णिव्याख्याग्रन्थोंमें जो सारेके सारे ग्रन्थकी प्रतीकोंका संग्रह किया है, इससे पता चलता है कि सिर्फ आगमोंकी मौलिक भाषामें ही नहीं, किन्तु पुस्तकारूढ करनेके युगकी भाषामें भी आज काफी परिवर्तन हो गया है। प्राकृत वृत्तिकार अर्थात् चूर्णिकारोंने अपनी व्याख्याओंमें जो आगमग्रन्थोंकी प्रतीकोंका उल्लेख किया है उससे काफी परिवर्तनवाली आगमग्रन्थोंकी प्रतीकोंका निर्देश संस्कृत व्याख्याकारोंने किया है। इससे प्रतीत होता है कि आगमग्रन्थोंकी भाषामें काफी परिवर्तन हो चुका है। ऐसी परिस्थितिमें आगमोंकी प्राचीन हस्तप्रतियाँ और उनके ऊपरकी प्राकृत व्याख्यारूप चूर्णियाँ भाषानिर्णयके विधानमें मुख्य साधन हो सकती हैं। यद्यपि आज बहुतसे जैन आगमोंकी प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ दुष्प्राप्य हैं तो भी कुछ अंगआगम और सूर्यप्रज्ञप्ति आदि उपांग वगैरह आगम ऐसे हैं जिनकी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीमें लिखित प्राचीन हस्तप्रतियाँ प्राप्य हैं। कितनेक आगम ऐसे भी हैं जिनकी चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दीमें लिखित प्रतियाँ ही प्राप्त हैं। इन प्रतियोंके अतिरिक्त आगमग्रन्थोंके ऊपरकी प्राकृत व्याख्यारूप चूर्णियाँ आगमोंकी भाषाका कुछ विश्वसनीय स्वरूप निश्चित करनेमें महत्वका साधन बन सकती हैं, जिन चूर्णियोंमें चूर्णिकारोंने जैसा ऊपर मैं कह आया हूँ वैसे प्रायः समग्र ग्रन्थकी प्रतीकोंका संग्रह किया है। यह साधन अति महत्वका एवं अतिविश्वसनीय है। यद्यपि चूर्णिग्रन्थोंकी अति प्राचीन प्रतियाँ लभ्य नहीं हैं तथापि बारहवीं तेरहवीं चौदहवीं शताब्दीमें लिखित प्रतियाँ काफी प्रमाणमें प्राप्य हैं। यहाँ एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि भले ही चूर्णिग्रन्थोंकी अति प्राचीन प्रतियाँ प्राप्य न भी होती हों, तो भी इन चूर्णिग्रन्थोंका अध्ययन-वाचन बहुत कम होनेसे इसमें परिवर्तन विकृति आदि होनेका संभव अति अल्प रहा है। अतः ऐसे चूर्णिग्रन्थोंको सामने रखनेसे आगमोंकी भाषाका निर्णय करनेमें प्रामाणिक साहाय्य मिल सकता है। यह बात तो जिन आगमोंके ऊपर

चूर्णि-व्याख्यायें पाई जाती हैं उनकी हुई । जिनके ऊपर ऐसे व्याख्याग्रन्थ नहीं हैं ऐसे आगमोंके लिये तो उनके प्राचीन-अर्वाचीन हस्तलिखित प्रत्यन्तर और उनमें पाये जानेवाले पाठभेदोंका—वाचनान्तरोंका अति विवेक पुरःसर पृथक्करण करना — यह ही एक साधन है । ऐसे प्रत्यन्तरोंमें मिलनेवाले विविध वाचनान्तरोंको पृथक्करण करनेका कार्य बड़ा मुश्किल एवं कष्टजनक है, और उनमेंसे भी किसको मौलिक स्थान देना यह काम तो अतिसूक्ष्मबुद्धिगम्य और साध्य है । भगवती सूत्रकी विक्रम संवत् १११० की लिखी हुई प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रति आचार्य श्री विजय जम्बूसूरिमहाराजके भंडारमें है, तेरहवीं शताब्दीमें लिखी हुई दो ताडपत्रीय प्रतियाँ जैसलमेरमें हैं, तेरहवीं शताब्दीमें लिखी हुई एक ताडपत्रीय प्रति खंभातके श्री शान्तिनाथ ज्ञानभंडारमें है और एक ताडपत्रीय तेरहवीं शताब्दीमें लिखी हुई बडौदेके श्री हंसविजयजी महाराजके ज्ञानभंडारमें है । ये पाँच प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियाँ चारकुलमें विभक्त हो जाती हैं । इनमें जो प्रायोगिक वैविध्य है वह भाषाशास्त्रियोंके लिये बड़े रसका विषय है । यही बात दूसरे आगमग्रन्थोंके बारेमें भी है । अस्तु, प्रसंगवशात् यहाँ जैन आगमोंकी भाषाके विषयमें कुछ सूचन करके अब अंगविज्ञाकी भाषाके विषयमें विचार किया जाता है ।

इस ग्रंथकी भाषा सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत है, फिर भी यह एक अबाध्य नियम है कि जैन रचनाओंमें जैन प्राकृत-अर्धमागधी भाषाका असर हमेशा काफी रहता है और इस वास्ते जैन ग्रन्थोंमें प्रायोगिक वैविध्य नजर आता है । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जैन निर्ग्रन्थोंका पाद-परिभ्रमण अनेक प्रान्तोंमें प्रदेशोंमें होनेके कारण उनकी भाषाके ऊपर जहाँ तहाँकी लोकभाषा आदिका असर पड़ता है और वह मिश्र भाषा हो जाती है । यही कारण है कि इसको अर्धमागधी कहा जाता है । यहाँ पर यह ध्यान रखनेकी बात है कि जैसे जैन प्राकृत भाषाके ऊपर महाराष्ट्री प्राकृत भाषाका असर पड़ा है वैसे महाराष्ट्री भाषाके ऊपर ही नहीं, संस्कृत आदि भाषाओंके ऊपर भी जैन प्राकृत-अर्धमागधी भाषाका असर जरूर पड़ा है । यही कारण है कि ऐसे बहुतसे शब्द इधर तिधर प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओंमें नजर आते हैं ।

अस्तु, इस अंगविज्ञा ग्रन्थकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत प्रधान भाषा होती हुई भी वह जैन प्राकृत है । इसी कारणसे इस ग्रंथमें ह्रस्व-दीर्घस्वर, द्विर्भाव-अद्विर्भाव स्वर-व्यंजनोके विकार अविकार, विविध प्रकारके व्यंजनविकार, विचित्र प्रयोग-विभक्तियाँ आदि बहुत कुछ नजर आती हैं । भाषा-विदोंके परिचयके लिये यहाँ इनका संक्षेपमें उल्लेख कर दिया जाता है ।

कका विकार—परिक्खेस सं० परिक्खेश, निक्खुड सं० निक्कुट आदि ।

कका अविकार—अकळ, सकण्ण, पडाका, जूधिका, नत्तिका, पाकटित आदि ।

क्षका विकार—बुख सं. वृक्ष, लुक्काणि सं. रूक्काणि, छोट सं. क्षुत, लुधा सं. क्षुधा, आदि ।

खका विकार—कज्जूरी सं. खर्जूरी, साधिगो सं. शाखिनः आदि ।

खका अविकार—मेखला, फलिखा आदि ।

गका विकार—छंदोक, मक सं. मृग, मकतण्हा सं. मृगतृष्णा आदि ।

घका विकार—गोहातक सं. गोघातक, उल्लंघित सं. उल्लङ्घित, छत्तोह सं. छत्रौष आदि ।

घका अविकार—जघन, चोरघात आदि ।

चका अविकार—अचलाय, जाचितक आदि ।

जका अविकार—जोजयितव्व, पजोजइरसं आदि ।

डका विकार—छलंगवी सं. षडङ्गवित्, दमिली सं. द्रविडी आदि ।

तका विकार—उदुसोभा, अणोदुग, पदोली, वदंसक, ठिदामास, भारधिक, पडिकुंडित सं. प्रति-
कुंचित आदि ।

तका अविकार—उतु, चेतित, वेतालिक, पितरो, पितुस्सिया, जूतगिह, जूतमाला, जोतिसिक आदि ।

थका विकार—आमधित, वीधी, कधा, मणोरध, रधप्पयात, पुधवी, गूध, रायपध, पाधेज्ज, पधवावत,
मिधो, तध, जूधिका आदि ।

थका अविकार—मधापथ, रथगिह आदि ।

दका विकार—कतंब, कातंब, रापप्पसात, लोकहितय, रातण सं. राजादन, पातव, मुर्निग सं.
मृदङ्ग, वेतिया आदि ।

दका अविकार—ओदनिक, पादकिंकणिका, अस्सादेहिति, पादखडुयक आदि ।

धका विकार—परिसाहसतो सं. पर्षद्वर्षकः आदि ।

धका अविकार—ओधि, ओसध, अविधेय, अन्वाबाध, खुधित, पसाधक, छुधा, सं. क्षुधा आदि ।

पका विकार—वउत्थ आदि ।

पका अविकार—अपलिखित, अपसारित, अपविद्ध, अपसकंत, पोरपच्च सं० पुरःपत्य, चेतितपादप
आदि ।

भका अविकार—परभुत सं० परभृत आदि ।

यका विकार—असव्वओ सं. यशस्वतः आदि ।

रका विकार—दालित सं. दारित, फलिखा सं. परिखा, लसिया सं. रसिका आदि ।

वका विकार—अपमक सं. अवमक, अपमतर, अपीवर सं. अबिवर, महापकास सं. महावकाश
आदि ।

इका विकार—रभस्स सं. रहस्य, बाधिरंग सं. बाह्याङ्ग, प्रधित सं. प्रहित, णाधिति प्रा. णाहिति सं. ज्ञास्यति आदि ।

लुप्त व्यंजनोके स्थानमें महाराष्ट्रीप्राकृतमें मुख्यतया अस्पष्ट य श्रुति होती है, परन्तु जैन प्राकृतमें त, ग, य, आदि वर्णोंका आगम होता है ।

तका आगम—रातोवरोध सं. राजोपरोध, पूता सं. पूजा, पूतिय सं. पूजित, आमतमत सं. आमयमय, गुरुत्थाणीत सं. गुरुस्थानीय, चैतितागत, सं. चैत्यगत, पातुणंतो सं. प्रगुणयन्, जवातू सं. यवागू, बीतपाल सं. बीजपाल आदि ।

गका आगम—पागुन सं. प्रावृत, सगुण सं. शकुन आदि ।

यका आगम—पूयिय सं. पूजित, रयित सं. रचित, पयुम सं. पत्र, रयतगिह सं. रजतगृह, सम्मोयिआ सं. सम्मुद् आदि ।

जैन प्राकृतमें कभी कभी शब्दोंके प्रारम्भके स्वरोंमें त का आगम होता है । ये प्रयोग प्राचीन भाष्य-चूर्ण और मूल आगम सूत्रोंमें भी देखे जाते हैं । तोपभोगतो सं. उपभोगतः, तूण सं. ऊन, तूहा सं. ऊहा, तेतेण सं. एतेण, तूका सं. यूका आदि ।

अनुस्वारके आगमवाले शब्द—गिंधी सं. गृद्धि, संली सं. श्याली, मुंदिका, सं. मृद्रीका, अप्पणि सं. आत्मनि आदि ।

अनुस्वारका लोप—सस्सयित सं. संशयित आदि ।

प्राकृत भाषामें ह्रस्व-दीर्घस्वर एवं व्यंजनोके द्विर्भाव-एकीभावका व्यत्यास बहुत हुआ करता है । इस ग्रंथमें ऐसे बहुतसे प्रयोग मिलते हैं—आमसती सं. आमृशति, अप्पणी सं. आत्मनि, णारिए सं. नार्याः, वुख सं. वृक्ष, णिखुड, णिकूड, कावकर, सयाण सं. सकर्ण आदि ।

जैसे प्राकृतमें शालिवाहन शब्दका संक्षिप्त शब्द प्रयोग सालाहण होता है वैसे ही जैन प्राकृतमें बहुतसे संक्षिप्त शब्दप्रयोग पाये जाते हैं—साव और साग सं. श्रावक, उग्गा सं. उपाध्याय, कयार सं. कचवर, जागू सं. यवागू, रातण सं. राजादन आदि ।

इस ग्रंथमें सिद्ध संस्कृतसे प्राकृत बने हुए प्रयोग कई मिलते हैं—अभ्युत्तिट्टति सं. अभ्युत्तिष्ठति, स्सा और सा सं. स्यात्, केयिच्च केचिच्च, कचि क्वचित्, अधीयता, अतप्परं सं. अतः परम्, अस सं. अस्य, याव सं. यावत्, वियाणीया सं. विजानीयात्, पस्से सं. पश्येत्, पते और पदे सं. पतेत्, पणिवते सं. प्रणिपतति, थिया सं. स्त्रियाः, पंथा, पेच्छते सं. प्रेक्षते, णिच्चसो, इस्सज्ज सं. ऐश्वर्ये, ण्हाउ सं. स्नायु आदि ।

निरीक्षण द्वारा फलादेशका निरूपण करता है। अतः मनुष्यके हलन-चलन और रहन-सहन आदिके विषयमें विपुल वर्णन इस ग्रन्थमें पाया जाता है।

यह ग्रन्थ भारतीय वाङ्मयमें अपने प्रकारका एक अपूर्वसा महाकाय ग्रन्थ है। जगतभरके वाङ्मयमें इतना विशाल, इतना विशद महाकाय ग्रन्थ दूसरा एक भी अद्यापि पर्यंत विद्वानोंकी नजरमें नहीं आया है।

इस शास्त्रके निर्माताने एक बात स्वयं ही कबूल कर ली है कि इस शास्त्रका वास्तविक परिपूर्ण ज्ञाता कितनी भी सावधानीसे फलादेश करेगा तो भी उसके सोलह फलादेशोंमेंसे एक असत्य ही होगा, अर्थात् इस शास्त्रकी यह एक त्रुटि है। यह शास्त्र यह भी निश्चित रूपसे निर्देश नहीं करता कि सोलह फलादेशोंमेंसे कौनसा असत्य होगा। यह शास्त्र इतना ही कहता है कि “सोलस वाकरणाणि वाकरेहिसि. ततो पुण एकं चुक्किहिसि, पणरह अच्छिड्डाणि भासिहिसि, ततो अजिणो जिणसंकासो भविहिसि” पृष्ठ २६५, अर्थात् “सोलह फलादेश तू करेगा उनमेंसे एकमें चूक जायगा, पनरहको संपूर्ण कह सकेगा — बतलाएगा, इससे तू केवल ज्ञानी न होने पर भी केवली समान होगा।”

इस शास्त्रके ज्ञाताको फलादेश करनेके पहले प्रश्न करनेवालेकी क्या प्रवृत्ति है? या प्रश्न करनेवाला किस अवस्थामें रहकर प्रश्न करता है? इसके तरफ उसको खास ध्यान या खयाल रखनेका होता है। प्रश्न करनेवाला प्रश्न करनेके समय अपने कौन-कौनसे अङ्गोंका स्पर्श करता है? वह बैठके प्रश्न करता है या खड़ा रहकर प्रश्न करता है?, रोता है या हँसता है?, वह गिर जाता है, सो जाता है, विनीत है या अविनीत?, उसका आना-जाना, आलिंगन-चुंबन करना, रोना, विलाप करना या आक्रन्दन करना, देखना, बात करना वगैरह सब क्रियाओंकी पद्धतिको देखता है; प्रश्न करनेवालेके साथ कौन है? क्या फलादि लेकर आया है?, उसने कौनसे आभूषण पहने हैं वगैरहको भी देखता है और बादमें अङ्गविद्याका ज्ञाता फलादेश करता है।

इस शास्त्रके परिपूर्ण एवं अतिगंभीर अध्ययनके बिना फलादेश करना एकाएक किसीके लिये भी शक्य नहीं है। अतः कोई ऐसी सम्भावना न कर बैठे कि इस ग्रन्थके सम्पादकमें ऐसी योग्यता होगी। मैंने तो इस वैज्ञानिक शास्त्रको वैज्ञानिक पद्धतिसे अध्ययन करने वालोंको काफी साहाय्य प्राप्त हो सके इस दृष्टिसे मेरेको मिले उतने इस शास्त्रके प्राचीन आदर्श और एतद्विषयक इधर-उधरकी विपुल सामग्रीको एकत्र करके, हो सके इतनी केवल शाब्दिक ही नहीं किन्तु आर्थिक संगतिपूर्वक इस शास्त्रको शुद्ध बनानेके लिये सुचारु रूपसे प्रयत्नमात्र किया है। अन्यथा मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि काफी प्रयत्न करनेपर भी इस ग्रन्थकी अति प्राचीन भिन्न-भिन्न कुलकी शुद्ध प्रतियाँ काफी प्रमाणमें न मिलनेके कारण अब भी ग्रन्थमें काफी खंडितता और अशुद्धियाँ

रह गई हैं। मैं चाहता हूँ कि कोई विद्वान् इस वैज्ञानिक विषयका अध्ययन करके इसके मर्मका उद्घाटन करे।

ऊपर कहा गया उस मुताबिक कोई वैज्ञानिक दृष्टिवाला फलादेशकी अपेक्षा इस शास्त्रका अध्ययन करे तो यह ग्रन्थ बहुत कीमती है — इसमें कोई फर्क नहीं है। फिर भी तात्कालिक दूसरी दृष्टिसे अगर देखा जाय तो यह ग्रन्थ कई अपेक्षासे महत्त्वका है। आयुर्वेदज्ञ, वनस्पतिशास्त्री, प्राणीशास्त्री, मानसशास्त्री, समाजशास्त्री, ऐतिहासिक वगैरहको इस ग्रन्थमें काफी सामग्री मिल जायगी। भारतके सांस्कृतिक इतिहास प्रेमीयोंके लिये इस ग्रन्थमें विपुल सामग्री भरी पड़ी है। प्राकृत और जैन प्राकृत व्याकरणज्ञोंके लिये भी सामग्री कम नहीं है। श्विष्यमें प्राकृत कोशके रचयिताको इस ग्रन्थका साद्यन्त अवलोकन नितान्त आवश्यक होगा।

सांस्कृतिक सामग्री

इस अंगविद्या ग्रन्थका मुख्य सम्बन्ध मनुष्योंके अंग एवं उनकी विविध क्रिया—चेष्टाओंसे होनेके कारण इस ग्रन्थमें अंग एवं क्रियाओंका विशद रूपमें वर्णन है। ग्रन्थकर्ताने अंगोंके आकार-प्रकार, वर्ण, संख्या, तोल, लिङ्ग, स्वभाव आदिको ध्यानमें रखकर उनको २७० विभागोंमें विभक्त किया है [देखो परिशिष्ट ४]। मनुष्योंकी विविध चेष्टाएँ, जैसे कि बैठना, पर्यस्तिका, आमर्श, अपश्रय-आलम्बन टेका देना, खडा रहना, देखना, हँसना, प्रश्न करना, नमस्कार करना, संलाप, आगमन, रुदन, परिदेवन, क्रन्दन, पतन, अभ्युत्थान, निर्गमन, प्रचलायित, जम्भाई लेना, चुम्बन, आलिगन, सेवित आदि; इन चेष्टाओंका अनेकानेक भेद-प्रकारोंमें वर्णन भी किया है। साथमें मनुष्यके जीवनमें होनेवाली अन्यान्य क्रिया—चेष्टाओंका वर्णन एवं उनके एकार्थकोंका भी निर्देश इस ग्रन्थमें दिया है। इससे सामान्यतया प्राकृत वाङ्मयमें जिन क्रियापदोंका उल्लेख-संग्रह नहीं हुआ है उनका संग्रह इस ग्रन्थमें विपुलतासे हुआ है, जो प्राकृत भाषाकी समृद्धिकी दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है [देखो तीसरा परिशिष्ट]।

सांस्कृतिक दृष्टिसे इस ग्रन्थमें मनुष्य, तिर्यच अर्थात् पशु-पक्षी-क्षुद्र जन्तु, देव-देवी और वनस्पतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही पदार्थ वर्णित हैं [देखो परिशिष्ट ४]।

इस ग्रन्थमें मनुष्यके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थ, जैसे कि—चतुर्वर्ण विभाग, जाति विभाग, गोत्र, योजि-अटक, सगपण सम्बन्ध, कर्म-बंधा-व्यापार, स्थान-अधिकार, आधिपत्य, यान-वाहन, नगर-ग्राम-मंडब-द्रोणमुखादि प्रादेशिक विभाग, घर-प्रासादादिके स्थान-विभाग, प्राचीन सिक्के, भाण्डोपकरण, भाजन, भोज्य, रस, सुरा आदि पेय पदार्थ, वस्त्र, आच्छादन, अलंकार, विविध प्रकारके तैल, अपश्रय-टेका देनेके साधन, रत-सुरत क्रीडाके प्रकार, दोहद, रोग, उत्सव, वादित्र,

आयुध, नदी, पर्वत, खनिज, वर्ण-रंग, मंडल, नक्षत्र, काल-वेला, व्याकरण विभाग, इन सबके नामादिका विपुल संग्रह है। तिर्यग्विभागके चतुष्पद, परिसर्प, जलचर, सर्प, मत्स्य, क्षुद्र जन्तु आदिके नामादिका भी विस्तृत संग्रह है। वनस्पति विभागके वृक्ष, पुष्प, फल, गुल्म, लता आदिके नामोंका संग्रह भी खूब है। देव और देवियोंके नाम भी काफी संख्यामें हैं। इस प्रकार मनुष्य, तिर्यच, वनस्पति आदिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जिन पदार्थोंका निर्देश इस ग्रंथमें मिलता है, यह भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताकी दृष्टिसे अतिमहत्त्वका है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि ग्रंथकार आचार्यने इस शास्त्रमें एतद्विषयक प्रणालिकानुसार वृक्ष, जाति और उनके अंग, सिके, भांडोपकरण, भाजन, भोजन, पेय द्रव्य, आभरण, वस्त्र, आच्छादन, शयन, आसन, आयुध, क्षुद्र जन्तु आदि जैसे जड एवं क्षुद्र चेतन पदार्थोंको भी इस ग्रंथमें पुं-स्त्री-नपुंसक विभागमें विभक्त किया है। इस ग्रंथमें सिर्फ इन चीजोंके नाम मात्र ही मिलते हैं, ऐसा नहीं किन्तु कई चीजोंके वर्णन और उनके एकार्थक भी मिलते हैं। जिन चीजोंके नामोंका पता संस्कृत-प्राकृत कोश आदिसे न चले, ऐसे नामोंका पता इस ग्रंथके सन्दर्भोंको देखनेसे चल जाता है।

इस ग्रंथमें शरीरके अङ्ग, एवं मनुष्य-तिर्यच-वनस्पति-देव-देवी वगैरहके साथ संबंध रखनेवाले जिन-जिन पदार्थोंके नामोंका संग्रह है वह तद्विषयक विद्वानोंके लिये अति महत्त्वपूर्ण संग्रह बन जाता है। इस संग्रहको भिन्न भिन्न दृष्टिसे गहराईपूर्वक देखा जायगा तो बड़े महत्त्वके कई नामोंका तथा विषयोंका पता चल जायगा। जैसे कि—क्षत्रप राजाओंके सिक्कोंका उल्लेख इस ग्रंथमें स्वत्तपको नामसे पाया जाता है [देखो अ० ९ श्लोक १८६]। प्राचीन खुदाईमेंसे कितने ही जैन आयाग-पट मिले हैं, फिर भी आयाग शब्दका उल्लेख-प्रयोग जैन ग्रंथोंमें कहीं देखनेमें नहीं आता है, किन्तु इस ग्रंथमें इस शब्दका उल्लेख पाया जाता है। [देखो पृष्ठ १५२, १६८]। सहितमहका नाम, जो श्रावस्ती नगरीका प्राचीन नाम था उसका भी उल्लेख इस ग्रंथमें अ० २६, १५३ में नजर आता है। इनके अतिरिक्त आजीवक, डुपहारक आदि अनेक शब्द एवं नामादिका संग्रह-उपयोग इस ग्रंथमें हुआ है जो संशोधकोंके लिये महत्त्वका है।

अंगविज्ञा ग्रन्थका अध्ययन और अनुवाद

कुछ विद्वानोंका कहना है कि इस ग्रन्थका अनुवाद किया जाय तो अच्छा हो। इस विषयमें मेरा मन्तव्य इस प्रकार है—

फलादेशविषयक यह ग्रन्थ एक पारिभाषिक ग्रन्थ है। जबतक इसकी परिभाषाका पता न लगाया जाय तबतक इस ग्रन्थके शाब्दिक मात्र अनुवादका कोई महत्त्व नहीं है। इसलिये इस ग्रन्थके अनुवादकको प्रथम तो इसकी परिभाषाका पता लगाना होगा और एतद्विषयक अन्यान्य ग्रन्थ देखने होंगे; जैसे कि इस ग्रन्थके अंतमें प्रथम परिशिष्ट रूपसे छपे हुए ग्रन्थ जैसे ग्रन्थ और

उसकी व्याख्यामें निर्दिष्ट पराशरी संहिता जैसे ग्रन्थोंका गहराईसे अवलोकन करना होगा । इतना करनेपर भी ग्रन्थकी परिभाषाका ज्ञान यह महत्त्वकी बात है । अगर इसकी परिभाषाका पता न लगा तो सब अवलोकन व्यर्थप्राय है और तात्त्विक अनुवाद करना अशक्य-सी बात है । दूसरी बात यह भी है कि यह ग्रन्थ यथासाधन यद्यपि काफी प्रमाणमें शुद्ध हो चुका है, फिर भी फलादेश करनेकी अपेक्षा इसका संशोधन अपूर्ण ही है । चिरकालसे इसका अध्ययन-अध्यापन न होनेके कारण इस ग्रन्थमें अब भी काफी त्रुटियाँ वर्तमान हैं; जैसे कि ग्रन्थ कई जगह खंडित है, अङ्ग आदिकी संख्या सब जगह बराबर नहीं मिलती और सम-विषम भी हैं, इसमें निर्दिष्ट पदार्थोंकी पहचान भी बराबर नहीं होती है, अङ्गशास्त्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका फलादेशमें क्या और कैसा उपयोग है ? इसकी परिभाषाका कोई पता नहीं है । इस तरह इस ग्रन्थका वास्तविक अनुवाद करना ही तो इस ग्रन्थका साधन्त अध्ययन, आनुषङ्गिक ग्रन्थोंका अवलोकन और एतद्विषयक परिभाषाका ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है ।

[' अंगविज्ञान 'का सम्पादन, ई. स. १९५७]
[कुछ संक्षेप करके]